श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भगवद्गीतायां(म्)
प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः(फ्) पाण्डवाश्चैव, किमकुर्वत सञ्जय ॥ 1॥

धृतराष्ट्र बोले- हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित, युद्ध की इच्छावाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ?

सञ्जय उवाच
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं(वँ),व्यूढं(न्) दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य, राजा वचनमब्रवीत् ॥ 2 ॥

संजय बोले- उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखा और द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा।

पश्यैतां(म्) पाण्डुपुत्राणा-माचार्य महतीं(ञ्) चमूम् ।
व्यूढां(न्) द्रुपदपुत्रेण, तव शिष्येण धीमता ॥ 3॥

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिए।

अत्र शूरा महेष्वासा, भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च, द्रुपदश्च महारथः ॥ 4॥

इस सेना में बड़े-बड़े धनुषों वाले तथा युद्ध में भीम और अर्जुन के समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद भी हैं।

धृष्टकेतुश्चेकितानः(ख्),काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च, शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ 5॥

धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान काशिराज,पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य भी हैं ।

युधामन्युश्च विक्रान्त, उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च, सर्व एव महारथाः ॥ 6॥

पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र- ये सभी महारथी हैं।

अस्माकं(न्) तु विशिष्टा ये, तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य, सञ्ज्ञार्थं(न्) तान् ब्रवीमि ते ॥ 7॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने पक्ष में भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिए। आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च, कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च, सौमदत्तिस्तथैव च ॥ 8॥

आप-द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा।

अन्ये च बहवः(श्) शूरा, मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः(स्), सर्वे युद्धविशारदाः ॥ 9॥

और भी मेरे लिए जीवन की आशा त्याग देने वाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और सब-के-सब युद्ध में चतुर हैं।

अपर्याप्तं(न्) तदस्माकं(म्), बलं(म्) भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं(न्) त्विदमेतेषां(म्), बलं(म्) भीमाभिरक्षितम् ॥ 10॥

भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की यह सेना जीतने में सुगम है।

अयनेषु च सर्वेषु, यथाभागमवस्थिताः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु, भवन्तः(स्) सर्व एव हि ॥ 11॥

इसलिए सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सभी निःसंदेह भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें।

तस्य संजनयन् हर्षं(ङ्), कुरुवृद्धः(फ्) पितामहः ।

सिं(म्)हनादं(वँ) विनद्योच्चैः(श्), शङ्खं(न्) दध्मौ प्रतापवान् ॥ 12॥

कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंह की दहाड़ के समान गरजकर शंख बजाया।

ततः(श्) शङ्खाश्च भेर्यश्च, पणवानकगोमुखाः ।

सहसैवाभ्यहन्यन्त, स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ 13॥

इसके पश्चात शंख और नगाड़े तथा ढोल, मृदंग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।

ततः(श्) श्वेतैर्हयैर्युक्ते, महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः(फ्) पाण्डवश्चैव, दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ 14॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाए।

पाञ्चजन्यं(म्) हृषीकेशो, देवदत्तं(न्) धनञ्जयः ।

पौण्ड्रं(न्) दध्मौ महाशङ्खं(म्), भीमकर्मा वृकोदरः ॥ 15॥

श्रीकृष्ण महाराज ने पाञ्चजन्य नामक, अर्जुन ने देवदत्त नामक और भयानक कर्मवाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया।

अनन्तविजयं(म्) राजा, कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः(स्) सहदेवश्च, सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ 16॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक

नामक शंख बजाए।

काश्यश्च परमेष्वासः(श्), शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च, सात्यकिश्चापराजितः ॥ 17॥

श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि ने शंख बजाए।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च, सर्वशः(फ्) पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः(श्), शङ्खान्दधमुः(फ्) पृथक् पृथक् ॥ 18॥

राजा द्रुपद एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु- इन सभी ने, हे राजन्! सब ओर से अलग-अलग शंख बजाए।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां(म्), हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं(ञ्) चैव, तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ 19॥

उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी गुंजाते हुए धार्तराष्ट्रों के अर्थात् आपके पक्षवालों के हृदय विदीर्ण कर दिए।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा, धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते, धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ 20॥

हे राजन्! इसके बाद कपिध्वज अर्जुन ने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-संबंधियों को देखकर, उस शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर कहा।

हृषीकेशं(न्) तदा वाक्य- मिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये, रथं(म्) स्थापय मेऽच्युत ॥ 21॥

हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराज से यह वचन कहा- हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं(यँ), योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्य- मस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ 22॥

और जब तक कि मैं युद्ध क्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओं को भली प्रकार देख न लूँ कि इस युद्ध रूप व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है, तब तक उसे खड़ा रखिए।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं(यँ), य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्-युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ 23॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में हित चाहने वाले जो-जो ये राजा लोग इस सेना में आए हैं, इन युद्ध करने वालों को मैं देखूँगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो, गुडाकेशेन भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये, स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ 24॥

संजय बोले- हे धृतराष्ट्र! अर्जुन द्वारा कहे अनुसार महाराज श्रीकृष्णचंद्र ने दोनों सेनाओं के बीच में उत्तम रथ को खड़ा कर दिया।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः(स्), सर्वेषां(ञ्) च महीक्षिताम् ।

उवाच पार्थ पश्यैतान्- समवेतान्कुरूनिति॥ 25॥

भीष्म और द्रोणाचार्य तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने इस प्रकार कहा कि हे पार्थ! युद्ध के लिए जुटे हुए इन कौरवों को देख।

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः(फ्), पितॄनथ पितामहान् ।

आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्- पुत्रान्पौत्रान्सखींं(म्)स्तथा ॥ 26॥

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित ताऊ-चाचाओं को, दादा -परदादाओं, गुरुओं को, मामाओं को,भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को देखा।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव, सेनयोरुभयोरपि ।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः(स्), सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ 27॥

श्वसुरों को और सुहृदों को भी देखा।उन उपस्थित सम्पूर्ण बंधुओंको देखकर वे कुंतीपुत्र अर्जुन ने कहा।

कृपया परयाविष्टो, विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं(म्) स्वजनं(ङ्) कृष्ण, युयुत्सुं(म्) समुपस्थितम् ॥ 28॥

अत्यन्त करुणा से युक्त होकर शोक करते हुए अर्जुन यह वचन बोले- हे कृष्ण! युद्ध क्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इस स्वजनसमुदाय को देखिए।

सीदन्ति मम गात्राणि, मुखं(ञ्) च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे, रोमहर्षश्च जायते ॥ 29॥

मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्पन एवं रोमांच हो रहा है।

गाण्डीवं(म्) स्रं(म्)सते हस्तात्-त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं(म्), भ्रमतीव च मे मनः ॥ 30॥

हाथ से गांडीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिए मैं खड़े रहने में भी असमर्थ हूँ।

निमित्तानि च पश्यामि, विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि, हत्वा स्वजनमाहवे ॥ 31॥

हे केशव! मैं लक्षणों को भी विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्ध में स्वजन-समुदाय को मारकर कल्याण भी नहीं देखता।

न काङ्क्षे विजयं(ङ्) कृष्ण, न च राज्यं(म्) सुखानि च ।
किं(न्) नो राज्येन गोविन्द, किं(म्) भोगैर्जीवितेन वा ॥32॥

हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखों को । हे गोविंद! हमें ऐसे राज्य से क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगों से और जीवन से भी क्या लाभ है ?

येषामर्थे काङ्क्षितं(न्) नो, राज्यं(म्) भोगाः(स्) सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे, प्राणां(म्)स्त्यक्त्वा धनानि च ॥ 33॥

हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं।

आचार्याः(फ्) पितरः(फ्) पुत्राः(स्), तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः(श्) श्वशुराः(फ्) पौत्राः(श्), श्यालाः(स्) सम्बन्धिनस्तथा ॥ 34॥

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे,ससुर,पौत्र,साले तथा और भी संबंधी लोग हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि, घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य, हेतोः(ख्) किं(न्) नु महीकृते ॥ 35॥

हे मधुसूदन! मुझे मारने पर भी अथवा तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः(ख्), का प्रीतिः(स्) स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्- हत्वैतानाततायिनः॥ 36॥

हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।

तस्मान्नार्हा वयं(म्) हन्तुं(न्), धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं(म्) हि कथं(म्) हत्वा, सुखिनः(स्) स्याम माधव ॥ 37॥

अतएव हे माधव! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं क्योंकि अपने ही कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे।

यद्यप्येते न पश्यन्ति, लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं(न्) दोषं(म्), मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ 38॥

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोष को और मित्रों से विरोध करने में पाप को नहीं देखते।

कथं(न्) न ज्ञेयमस्माभिः(फ्), पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं(न्) दोषं(म्), प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ 39॥

हे जनार्दन! कुल के नाश से उत्पन्न दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति, कुलधर्माः(स्) सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं(ङ्) कृत्स्न- मधर्मोऽभिभवत्युत ॥ 40॥

कुल के नाश से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं तथा धर्म का नाश हो जाने पर सम्पूर्ण कुल में पाप भी बहुत फैल जाता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण, प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय, जायते वर्णसङ्करः ॥ 41॥

हे कृष्ण! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है।

सङ्करो नरकायैव, कुलघ्नानां(ङ्) कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां(लँ), लुप्तपिण्डोदक्रियाः ॥ 42॥

वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिए ही होता है।लुप्त हुई पिण्ड और जल की क्रिया वाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पण से वंचित इनके पितर लोग भी अधोगति को प्राप्त होते हैं।

दोषैरेतैः(ख्) कुलघ्नानां(वँ), वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः(ख्), कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ 43॥

इन वर्णसंकरकारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां(म्), मनुष्याणां(ञ्) जनार्दन ।
नरकेऽनियतं(वँ) वासो, भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ 44॥

हे जनार्दन! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्यों का अनिश्चितकाल तक नरक में वास होता है, ऐसा हम सुनते आए हैं।

अहो बत महत्पापं(ङ्), कर्तुं(वँ) व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन, हन्तुं(म्) स्वजनमुद्यताः ॥ 45॥

हा! हम लोग बुद्धिमान होकर भी महान पाप करने को तैयार हो गए हैं, जो राज्य और सुख के लोभ से स्वजनों को मारने के लिए उद्यत हो गए हैं।

यदि मामप्रतीकार-मशस्त्रं(म्) शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्- तन्मे क्षेमतरं(म्) भवेत् ॥ 46॥

यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करने वाले को शस्त्र हाथ में लिए हुए धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिएअधिक कल्याणकारक होगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः(स्) सङ्ख्ये, रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं(ञ्) चापं(म्), शोकसं(वँ)विग्नमानसः ॥ 47॥

संजय बोले- रणभूमि में शोक से उद्विग्न मन वाले अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गए।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता द्वितीय अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

द्वितीयोऽध्यायः

सञ्जय उवाच

तं(न्) तथा कृपयाविष्ट- मश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।

विषीदन्तमिदं(वँ) वाक्य- मुवाच मधुसूदनः ॥ 1॥

संजय बोले- उस प्रकार करुणा से व्याप्त और आँसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले शोकयुक्त उस अर्जुन के प्रति भगवान मधुसूदन ने यह वचन कहा।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं(वँ), विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्य -मकीर्तिकरमर्जुन॥ 2॥

श्रीभगवान बोले- हे अर्जुन! तुझे इस असमय में यह मोह किस हेतु से प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्ति को करने वाला ही है।

क्लैब्यं(म्) मा स्म गमः(फ्) पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं(म्) हृदयदौर्बल्यं(न्), त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ 3॥

इसलिए हे अर्जुन! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा।

अर्जुन उवाच

कथं(म्) भीष्ममहं(म्) सङ्ख्ये, द्रोणं(ञ्) च मधुसूदन ।

इषुभिः(फ्) प्रतियोत्स्यामि, पूजार्हावरिसूदन ॥ 4॥

अर्जुन बोले- हे मधुसूदन! मैं रणभूमि में किस प्रकार बाणों से भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्-

श्रेयो भोक्तुं(म्) भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामां(म्)स्तु गुरूनिहैव

भुञ्जीय भोगान्-रुधिरप्रदिग्धान् ॥ 5॥

इसलिए इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूँगा।

न चैतद्विद्मः(ख्) कतरन्नो गरीयो-

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषामस्-

तेऽवस्थिताः(फ्) प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ 6॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना और न करना- इन दोनों में से कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे मुकाबले में खड़े हैं॥6॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः(फ्),

पृच्छामि त्वां(न्) धर्मसम्मूढचेताः ।

यच्छ्रेयः(स्) स्यान्निश्चितं(म्) ब्रूहि तन्मे,

शिष्यस्तेऽहं(म्) शाधि मां(न्) त्वां(म्) प्रपन्नम् ॥ 7॥

इसलिए कायरता रूप दोष से उपहत हुए स्वभाव वाला तथा धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिए कहिए क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिए आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिए।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-

यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं(म्),

राज्यं(म्) सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ 8॥

क्योंकि भूमि में निष्कण्टक, धन-धान्य सम्पन्न राज्य को और देवताओं के स्वामीपने को प्राप्त होकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर कर सके।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं(ङ्), गुडाकेशः(फ्) परन्तप ।

न योत्स्य इति गोविन्द-मुक्त्वा तूष्णीं(म्) बभूव ह ॥ 9॥

संजय बोले- हे राजन्! निद्राको जीतने वाले अर्जुन अंतर्यामी श्रीकृष्ण महाराज के प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्री गोविंद भगवान् से -"युद्ध नहीं करूँगा" यह स्पष्ट कहकर चुप हो गए।

तमुवाच हृषीकेशः(फ्), प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये, विषीदन्तमिदं(वँ) वचः ॥ 10॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अंतर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओं के बीच में शोक करते हुए उस अर्जुन को हँसते हुए से यह वचन बोले।

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं(म्), प्रज्ञावादां(म्)श्च भाषसे ।

गतासूनगतासूं(म्)श्च, नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ 11॥

श्री भगवान बोले, हे अर्जुन! तू न शोक करने योग्य मनुष्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों के से वचनों को कहता है, परन्तु जिनके प्राण चले गए हैं, उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गए हैं उनके लिए भी पण्डितजन शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं(ञ्) जातु नासं(न्), न त्वं(न्) नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः(स्), सर्वे वयमतः(फ्) परम् ॥ 12॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे, कौमारं(यँ) यौवनं(ञ्) जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर् -धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ 13॥

जैसे जीवात्मा की इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है, उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय, शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्- तां(म्)स्तितिक्षस्व भारत ॥ 14॥

हे कुंतीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं, इसलिए हे भारत! उनको तू सहन कर।

यं(म्) हि न व्यथयन्त्येते, पुरुषं(म्) पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं(न्) धीरं(म्), सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ 15॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य होता है।

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्- त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ 16॥

असत् वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों का ही तत्व तत्वज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि, येन सर्वमिदं(न्) ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य, न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ 17॥

नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्- दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा, नित्यस्योक्ताः(श्) शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य, तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ 18॥

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गए हैं, इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर॥18॥

य एनं(वँ) वेत्ति हन्तारं(यँ), यश्चैनं(म्) मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो, नायं(म्) हन्ति न हन्यते ॥ 19॥

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-

नायं(म्) भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः(श्) शाश्वतोऽयं(म्) पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ 20॥

यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।

वेदाविनाशिनं(न्) नित्यं(यँ), य एनमजमव्ययम् ।

कथं(म्) स पुरुषः(फ्) पार्थ, कं(ङ्) घातयति हन्ति कम् ॥ 21॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ?

वासां(म्)सि जीर्णानि यथा विहाय,

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्-

न्यन्यानि सं(यँ)याति नवानि देही ॥ 22॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होता है।

नैनं(ञ्) छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं(न्) दहति पावकः ।

न चैनं(ङ्) क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥ 23॥

इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय- मक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः(स्) सर्वगतः(स्) स्थाणु- रचलोऽयं(म्) सनातनः ॥ 24॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽय- मविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं(वँ) विदित्वैनं(न्), नानुशोचितुमर्हसि ॥ 25॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जानकर तू शोक करने के योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।

अथ चैनं(न्) नित्यजातं(न्), नित्यं(वँ) वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं(म्) महाबाहो, नैवं(म्) शोचितुमर्हसि ॥ 26॥

किन्तु यदि तू इस आत्मा को सदा जन्मने वाला तथा सदा मरने वाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो! तू इस प्रकार शोक करने योग्य नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्-ध्रुवं(ञ्) जन्म मृतस्य च ।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे, न त्वं(म्) शोचितुमर्हसि ॥ 27॥

क्योंकि इस मान्यता के अनुसार जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है। इससे भी इस बिना उपाय वाले विषय में तू शोक करने योग्य नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ॥ 28॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मरने के बाद भी अप्रकट हो जाने वाले हैं, केवल बीच में ही प्रकट हैं, फिर ऐसी स्थिति में क्या शोक करना है ?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-

माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः(श्) श्रृणोति,

श्रुत्वाप्येनं(वँ) वेद न चैव कश्चित् ॥ 29॥

कोई एक महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्व का आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता।

देही नित्यमवध्योऽयं(न्), देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि, न त्वं(म्) शोचितुमर्हसि ॥ 30॥

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीर में सदा ही अवध्य है। इस कारण सम्पूर्ण प्राणियों के लिए तू शोक करने योग्य नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य, न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्-क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ 31॥

तथा अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिए क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं(म्), स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः(ह) क्षत्रियाः(फ्) पार्थ, लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ 32॥

हे पार्थ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय लोग ही पाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं(न्) धर्म्यं(म्), सङ्ग्रामं(न्) न करिष्यसि ।

ततः(स्) स्वधर्मं(ङ्) कीर्तिं(ञ्) च, हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ 33॥

किन्तु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा।

अकीर्तिं(ञ्) चापि भूतानि, कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्-मरणादतिरिच्यते ॥ 34॥

सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति का भी कथन करेंगे और माननीय पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर है।

भयाद्रणादुपरतं(म्), मं(म्)स्यन्ते त्वां(म्) महारथाः ।

येषां(ञ्) च त्वं(म्) बहुमतो, भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ 35॥

और जिनकी दृष्टि में तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे।

अवाच्यवादां(म्)श्च बहून्- वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं(न्), ततो दुःखतरं(न्) नु किम् ॥ 36॥

तेरे वैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निंदा करते हुए तुझे बहुत से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे, उससे अधिक दुःख और क्या होगा ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं(ञ्), जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ 37॥

या तो तू युद्ध में मारा जाकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा संग्राम में जीतकर पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इस कारण हे अर्जुन! तू युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा।

सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं(म्) पापमवाप्स्यसि ॥ 38॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुख को समान समझकर, उसके बाद युद्ध के लिए तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये, बुद्धिर्योगे त्विमां(म्) श्रृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ, कर्मबन्धं(म्) प्रहास्यसि ॥ 39॥

हे पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गई और अब तू इसको कर्मयोग विषय में सुन- जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मों के बंधन को भली-भाँति त्याग देगा अर्थात् सर्वथा नष्ट कर डालेगा।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात् ॥ 40॥

इस कर्मयोग में आरंभ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्यु रूप महान् भय से रक्षा कर लेता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि- रेकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च, बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ 41॥

हे अर्जुन! इस कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है, किन्तु अस्थिर विचार वाले विवेकहीन सकाम मनुष्यों की बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदों वाली और अनन्त होती हैं।

यामिमां(म्) पुष्पितां(वँ) वाचं(म्), प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः(फ्) पार्थ, नान्यदस्तीति वादिनः ॥42॥

हे अर्जुन! जो कर्मफल के प्रशंसक वेदवाक्यों में ही प्रीति रखते हैं,वे अविवेकी जन इस प्रकार की जिस पुष्पित (दिखाऊ शोभा युक्त) वाणी को कहा करते हैं- कि अन्य कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं.....

कामात्मानः(स्) स्वर्गपरा, जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां(म्), भोगैश्वर्यगतिं(म्) प्रति ॥43॥

जो भोगों में तन्मय हो रहे हैं, जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है। जन्म रूप कर्म फल देने वाली एवं भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की बहुत सी क्रियाओं का वर्णन करने वाली है।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां(न्), तयापहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः(स्), समाधौ न विधीयते ॥44॥

उस वाणी द्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषों की परमात्मा में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।

त्रैगुण्यविषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो, निर्योगक्षेम आत्मवान् । 45॥

हे अर्जुन! वेद उपर्युक्त प्रकार से तीनों गुणों के कार्य रूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं, इसलिए तू उन भोगों एवं उनके साधनों में आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वंद्वों से रहित, नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित योग- क्षेम को न चाहने वाला और स्वाधीन अन्तःकरण वाला हो।

यावानर्थ उदपाने, सर्वतः(स्) सम्प्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु, ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ 46 ॥

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्म को तत्व से जानने वाले ब्राह्मण का समस्त वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्- मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ 47॥

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

योगस्थः(ख्) कुरु कर्माणि, सङ्गं(न्) त्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः(स्) समो भूत्वा, समत्वं(यँ) योग उच्यते ॥ 48॥

हे धनंजय! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित हुआ कर्तव्य कर्मों को कर, समत्व ही योग कहलाता है।

दूरेण ह्यवरं(ङ्) कर्म, बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ, कृपणाः(फ्) फलहेतवः ॥ 49॥

इस समत्वरूप बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है। इसलिए हे धनंजय! तू समबुद्धि में ही रक्षा का उपाय ढूँढ अर्थात् बुद्धियोग का ही आश्रय ग्रहण कर क्योंकि फल के हेतु बनने वाले अत्यन्त दीन हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः(ख्) कर्मसु कौशलम् ॥ 50॥

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है। इससे तू समत्व रूप योग में लग जा, यह समत्व रूप योग ही कर्मों में कुशलता है अर्थात् कर्मबंध से छूटने का उपाय है।

कर्मजं(म्) बुद्धियुक्ता हि, फलं(न्) त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः(फ्), पदं(ङ्) गच्छन्त्यनामयम् ॥ 51॥

क्योंकि समबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बंधन से मुक्त होकर निर्विकार परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।

यदा ते मोहकलिलं(म्), बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं(म्), श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ 52॥

जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल को भलीभाँति पार कर जाएगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने में आने वाले इस लोक और परलोक संबंधी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते, यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्- तदा योगमवाप्स्यसि ॥ 53॥

भाँति-भाँति के वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मा में अचल और स्थिर ठहर जाएगी, तब तू योग को प्राप्त हो जाएगा अर्थात् तेरा परमात्मा से नित्य संयोग हो जाएगा।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः(ख्) किं(म्) प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ॥ 54॥

अर्जुन बोले- हे केशव! समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ?

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्- सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः(स्), स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ 55॥

श्री भगवान् बोले- हे अर्जुन! जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः(स्), सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः(स्), स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ 56॥

दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

यः(स्) सर्वत्रानभिस्नेहस्- तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 57॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा सं(म्)हरते चायं(ङ्), कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्- तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 58॥

और कछुआ सब ओर से अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है।

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं(म्) रसोऽप्यस्य, परं(न्) दृष्ट्वा निवर्तते ॥ 59॥

इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय, पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं(म्) मनः ॥ 60॥

हे अर्जुन! आसक्ति का नाश न होने के कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी बलात् हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि सं(यँ)यम्य, युक्त आसीत मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 61॥

इसलिए साधक को चाहिए कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर हो जाती है।

ध्यायतो विषयान्पुं(म्)सः(स्), सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संजायते कामः(ख्), कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ 62॥

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः(स्), सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रं(म्)शाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ 63॥

क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति ॥ 64॥

परंन्तु अपने अधीन किए हुए अन्तःकरण वाला साधक अपने वश में की हुई, राग-द्वेष रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां(म्), हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु, बुद्धिः(फ्) पर्यवतिष्ठते ॥ 65॥

अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः(श्) शान्ति- रशान्तस्य कुतः(स्) सुखम् ॥ 66॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियों वाले पुरुष में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है ?

इन्द्रियाणां(म्) हि चरतां(यँ), यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां(वँ), वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ 67॥

क्योंकि जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है।

तस्माद्यस्य महाबाहो, निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्-तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 68॥

इसलिए हे महाबाहो! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों में सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां(न्), तस्यां(ञ्) जागर्ति सं(यँ)यमी ।

यस्यां(ञ्) जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ 69॥

सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जो रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति में स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, परमात्मा के तत्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि के समान है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं(म्),

समुद्रमापः(फ्) प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं(म्) प्रविशन्ति सर्वे,

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ 70॥

जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

विहाय कामान्यः(स्) सर्वान्- पुमां(म्)श्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहं(ङ्)कारः(स्), स शान्तिमधिगच्छति ॥ 71॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शांति को प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्ति को प्राप्त है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः(फ्) पार्थ, नैनां(म्) प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि, ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ 72॥

हे अर्जुन! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अंतकालमें भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शांतिः(श्)शांतिः(श्)शांतिः ।।

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता तृतीय अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते, मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं(ङ्) कर्मणि घोरे मां(न्), नियोजयसि केशव ॥ 1 ॥

अर्जुन बोले- हे जनार्दन! यदि आपको कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन, बुद्धिं(म्) मोहयसीव मे ।

तदेकं(वँ) वद निश्चित्य, येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ 2 ॥

आप मिले हुए-से वचनों से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिए उस एक बात को निश्चित करके कहिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां(ङ्), कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ 3 ॥

श्रीभगवान बोले- हे निष्पाप! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई है। उनमें से सांख्य योगियों की निष्ठा तो ज्ञान योग से और योगियों की निष्ठा कर्मयोग से होती है

न कर्मणामनारम्भान्-नैष्कर्म्यं(म्) पुरुषोऽश्नुते ।

न च सन्न्यसनादेव, सिद्धिं(म्) समधिगच्छति ॥ 4 ॥

मनुष्य न तो कर्मों का आरंभ किए बिना निष्कर्मता को यानी योगनिष्ठा को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्यागमात्र से सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठा को ही प्राप्त होता है

न हि कश्चित्क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः(ख्) कर्म, सर्वः(फ्) प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ 5 ॥

निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रहता क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है

कर्मेन्द्रियाणि सं(यँ)यम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा, मिथ्याचारः(स्) स उच्यते ॥ 6 ॥

जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात दम्भी कहा जाता है

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा, नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः(ख्) कर्मयोग-मसक्तः(स्) स विशिष्यते ॥ 7 ॥

किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है

नियतं(ङ्) कुरु कर्म त्वं(ङ्), कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ 8 ॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं(ङ्) कर्मबन्धनः ।

तदर्थं(ङ्) कर्म कौन्तेय, मुक्तसं(ङ्)गः(स्) समाचर ॥ 9 ॥

यज्ञ के निमित्त किए जाने वाले कर्मों से अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मुनष्य समुदाय कर्मों से बँधता है। इसलिए हे अर्जुन! तू आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य कर्म कर

सहयज्ञाः(फ्) प्रजाः(स्) सृष्ट्वा, पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्व-मेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ 10 ॥

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो

देवान्भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं(म्) भावयन्तः(श्), श्रेयः(फ्) परमवाप्स्यथ ॥ 11 ॥

तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से एक-दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे

इष्टान्भोगान्हि वो देवा, दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो, यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ 12 ॥

यज्ञ द्वारा बढ़ाए हुए देवता तुम लोगों को बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओं द्वारा दिए हुए भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिए स्वयं भोगता है, वह चोर ही है

यज्ञशिष्टाशिनः(स्) सन्तो, मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं(म्) पापा, ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ 13 ॥

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीर-पोषण करने के लिए ही अन्न पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः(ख्) कर्मसमुद्भवः ॥ 14 ॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं(वँ) विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्सर्वगतं(म्) ब्रह्म, नित्यं(यँ) यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ 15 ॥

कर्मसमुदाय को तू वेद से उत्पन्न और वेद को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है

एवं(म्) प्रवर्तितं(ञ्) चक्रं(न्), नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो, मोघं(म्) पार्थ स जीवति ॥ 16 ॥

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार परम्परा से प्रचलित सृष्टिचक्र के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह इन्द्रियों द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है

यस्त्वात्मरतिरेव स्या-दात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्-तस्य कार्यं(न्) न विद्यते ॥ 17 ॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है

नैव तस्य कृतेनार्थो, नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु, कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ 18 ॥

उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ का संबंध नहीं रहता

तस्मादसक्तः(स्) सततं(ङ्), कार्यं(ङ्) कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म, परमाप्नोति पूरुषः ॥ 19 ॥

इसलिए तू निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्यकर्म को भलीभाँति करता रह क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है

कर्मणैव हि सं(म्)सिद्धि-मास्थिता जनकादयः ।

लोकसं(ङ्)ग्रहमेवापि, सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ 20 ॥

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे, इसलिए तथा लोकसंग्रह को देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्-तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं(ङ्) कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते ॥ 21 ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसी के अनुसार बरतने लग जाता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं(न्), त्रिषु लोकेषु किं(ञ्)चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं(वँ), वर्त एव च कर्मणि ॥ 22 ॥

हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म में ही बरतता हूँ

यदि ह्यहं(न्) न वर्तेयं(ञ्), जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः(फ्) पार्थ सर्वशः ॥ 23 ॥

क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मों में न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाए क्योंकि मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं

उत्सीदेयुरिमे लोका, न कुर्यां(ङ्) कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्या-मुपहन्यामिमाः(फ्) प्रजाः ॥ 24 ॥

इसलिए यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँ और मैं संकरता का करने वाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ

सक्ताः(ख्) कर्मण्यविद्वां(म्)सो, यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वां(म्)स्तथासक्तश्-चिकीर्षुर्लोकसं(ङ्)ग्रहम् ॥ 25 ॥

हे भारत! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे

न बुद्धिभेदं(ञ्) जनये-दज्ञानां(ङ्) कर्मसङ्गिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि, विद्वान्युक्तः(स्) समाचरन् ॥ 26 ॥

परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह शास्त्रविहित कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाए

प्रकृतेः(ख्) क्रियमाणानि, गुणैः(ख्) कर्माणि सर्वशः ।

अहं(ङ्)कारविमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते ॥ 27 ॥

वास्तव में सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है

तत्त्ववित्तु महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त, इति मत्वा न सज्जते ॥ 28 ॥

परन्तु हे महाबाहो! गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्व को जानने वाला ज्ञान योगी सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः(स्), सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्-कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ 29 ॥

प्रकृति के गुणों से अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणों में और कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझने वाले मन्दबुद्धि अज्ञानियों को पूर्णतया जानने वाला ज्ञानी विचलित न करे

मयि सर्वाणि कर्माणि,सं(न्)न्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा, युध्यस्व विगतज्वरः ॥ 30 ॥

मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर

ये मे मतमिदं(न्) नित्य-मनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो, मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ 31 ॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टि से रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो, नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढां(म्)स्तान्-विद्धि नष्टानचेतसः ॥ 32 ॥

परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खों को तू सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहित और नष्ट हुए ही समझ

सदृशं(ञ्) चेष्टते स्वस्याः(फ्), प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं(यँ) यान्ति भूतानि, निग्रहः(ख्) किं(ङ्) करिष्यति ॥ 33 ॥

सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात अपने स्वभाव के परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे, रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्-तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ 34 ॥

इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान् शत्रु हैं

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः(फ्), परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं(म्) श्रेयः(फ्), परधर्मो भयावहः ॥ 35 ॥

अच्छी प्रकार आचरण में लाए हुए दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं(म्), पापं(ञ्) चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय, बलादिव नियोजितः ॥ 36 ॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाए हुए की भाँति किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा, विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ 37 ॥

श्री भगवान बोले- रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खाने वाला अर्थात भोगों से कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है। इसको ही तू इस विषय में वैरी जान

धूमेनाव्रियते वह्निर्-यथादर्शो मलेन च।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्-तथा तेनेदमावृतम् ॥ 38 ॥

जिस प्रकार धुएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढँका जाता है तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढँका रहता है, वैसे ही उस काम द्वारा यह ज्ञान ढँका रहता है

आवृतं(ञ्) ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय, दुष्पूरेणानलेन च ॥ 39 ॥

और हे अर्जुन! इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होने वाले काम रूप ज्ञानियों के नित्य वैरी द्वारा मनुष्य का ज्ञान ढँका हुआ है

इन्द्रियाणि मनो बुद्धि-रस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष, ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ 40 ॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि- ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ, नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं(म्) प्रजहि ह्येनं(ञ्), ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ 41 ॥

इसलिए हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले महान पापी काम को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल

इन्द्रियाणि पराण्याहु-रिन्द्रियेभ्यः(फ्) परं(म्) मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्-यो बुद्धेः(फ्) परतस्तु सः ॥ 42 ॥

इन्द्रियों को स्थूल शरीर से पर यानी श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म कहते हैं। इन इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है

एवं(म्) बुद्धेः(फ्) परं(म्) बुद्धवा, सं(म्)स्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं(म्) महाबाहो, कामरूपं(न्) दुरासदम् ॥ 43 ॥

इस प्रकार बुद्धि से पर अर्थात सूक्ष्म, बलवान और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और बुद्धि द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डाल

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ)

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शांतिः(श्)शांतिः(श्)शांतिः।।

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्थ अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(ञ्)

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं(वँ) विवस्वते योगं(म्), प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ 1 ॥

श्री भगवान बोले- मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा ।

एवं(म्) परम्पराप्राप्त- मिमं(म्) राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता, योगो नष्टः(फ्) परन्तप ॥ 2 ॥

हे परन्तप अर्जुन! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्तप्राय हो गया ।

स एवायं(म्) मया तेऽद्य, योगः(फ्) प्रोक्तः(फ्) पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति, रहस्यं(म्) ह्येतदुत्तमम् ॥ 3 ॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिए वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है ।

अर्जुन उवाच

अपरं(म्) भवतो जन्म, परं(ञ्) जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां(न्), त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ 4 ॥

अर्जुन बोले- आपका जन्म तो अर्वाचीन-अभी हाल का है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्प के आदि में हो चुका था; तब मैं इस बात को कैसे समूझँ कि आप ही ने कल्प के आदि में सूर्य से यह योग कहा था?

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं(वँ) वेद सर्वाणि, न त्वं(वँ) वेत्थ परन्तप ॥ 5 ॥

श्री भगवान बोले- हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा, भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं(म्) स्वामधिष्ठाय, सम्भवाम्यात्ममायया ॥ 6 ॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ ।

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं(म्) सृजाम्यहम् ॥ 7 ॥

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां(वँ), विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसं(म्)स्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे ॥ 8 ॥

साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ ।

जन्म कर्म च मे दिव्य- मेवं(यँ) यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं(म्) पुनर्जन्म, नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ 9 ॥

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं- इस प्रकार जो मनुष्य तत्व से जान लेता है, वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ।

वीतरागभयक्रोधा, मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा, पूता मद्भावमागताः ॥ 10 ॥

पहले भी- जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गए थे और जो मुझ में अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहने वाले बहुत से भक्त उपर्युक्त ज्ञान रूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं ।

ये यथा मां(म्) प्रपद्यन्ते, तां(म्)स्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः(फ्) पार्थ सर्वशः ॥ 11 ॥

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं ।

काङ्क्षन्तः(ख्) कर्मणां(म्) सिद्धिं(यँ), यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं(म्) हि मानुषे लोके, सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ 12 ॥

इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन किया करते हैं क्योंकि उनको कर्मों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ।

चातुर्वर्ण्यं(म्) मया सृष्टं(ङ्), गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां(वँ), विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ 13 ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- इन चार वर्णों का समूह, गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू वास्तव में अकर्ता ही जान ।

न मां(ङ्) कर्माणि लिम्पन्ति, न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां(यँ) योऽभिजानाति, कर्मभिर्न स बध्यते ॥ 14 ॥

कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिए मुझे कर्म लिप्त नहीं करते- इस प्रकार जो मुझे तत्व से जान लेता है, वह भी कर्मों से नहीं बँधता ।

एवं(ञ्) ज्ञात्वा कृतं(ङ्) कर्म, पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं(म्), पूर्वैः(फ्) पूर्वतरं(ङ्) कृतम् ॥ 15 ॥

पूर्वकाल में मुमुक्षुओं ने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किए हैं, इसलिए तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किए जाने वाले कर्मों को ही कर ।

किं(ङ्) कर्म किमकर्मेति, कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ 16 ॥

कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? इस प्रकार इसका निर्णय करने में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिए वह कर्मतत्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से अर्थात् कर्मबंधन से मुक्त हो जाएगा ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं(म्), बोद्धव्यं(ञ्) च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं(ङ्), गहना कर्मणो गतिः ॥ 17 ॥

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्मण का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए क्योंकि कर्म की गति गहन है ।

कर्मण्यकर्म यः(फ्) पश्ये-दकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु, स युक्तः(ख्) कृत्स्नकर्मकृत् ॥ 18 ॥

जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है ।

यस्य सर्वे समारम्भाः(ख्), कामसङ्कल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं(न्), तमाहुः(फ्) पण्डितं(म्) बुधाः ॥ 19 ॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म हो गए हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं॥19॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं(न्), नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि, नैव किञ्चित्करोति सः ॥ 20 ॥

जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भलीभाँति बरतता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता ।

निराशीर्यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं(ङ्) केवलं(ङ्) कर्म, कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ 21 ॥

जिसका अंतःकरण और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगों की सामग्री का परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर-संबंधी कर्म करता हुआ भी पापों को नहीं प्राप्त होता ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।

समः(स्) सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वापि न निबध्यते ॥ 22॥

जो बिना इच्छा के अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो गया हो, जो हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों से सर्वथा अतीत हो गया है- ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता ।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः(ख्) कर्म, समग्रं(म्) प्रविलीयते ॥ 23॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है, जो देहाभिमान और ममता से रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है- ऐसा केवल यज्ञसम्पादन के लिए कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं ।

ब्रह्मार्पणं(म्) ब्रह्म हविर्-ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं(म्), ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ 24॥

जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किए जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ता द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है- उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही हैं ।

दैवमेवापरे यज्ञं(यँ), योगिनः(फ्) पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं(यँ), यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ 25॥

दूसरे योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्नि में अभेद दर्शनरूप यज्ञ द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं ।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये, सं(यँ)यमाग्निषु जुह्वति।

शब्दादीन्विषयानन्य, इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ 26॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों को संयम रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं ।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि, प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसं(यँ)यमयोगाग्नौ, जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ 27 ॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं और प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्म संयम योगरूप अग्नि में हवन किया करते हैं ।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः(स्) सं(म्)शितव्रताः ॥ 28॥

कई पुरुष द्रव्य संबंधी यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही तपस्या रूप यज्ञ करने वाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही अहिंसादि तीक्ष्णव्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करने वाले हैं ।

अपाने जुह्वति प्राणं(म्), प्राणेऽपानं(न्) तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणाः ॥ 29॥

दूसरे कितने ही प्राणायाम परायण पुरुष योगीजन अपान वायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं ।

अपरे नियताहाराः(फ्), प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो, यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ 30 ॥

कितने ही नियमित आहार करने वाले, प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणों को प्राणों में ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों को जानने वाले हैं ।

यज्ञशिष्टामृतभुजो, यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं(लँ) लोकोऽस्त्ययज्ञस्य, कुतोऽन्यः(ख्) कुरुसत्तम ॥ 31॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। और यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिए तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है?

एवं(म्) बहुविधा यज्ञा, वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान्विद्धि तान्सर्वा-नेवं(ञ्) ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ 32॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरह के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गए हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीर की क्रिया द्वारा सम्पन्न होने वाले जान, इस प्रकार तत्व से जानकर उनके अनुष्ठान द्वारा तू कर्म बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाएगा ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्-ज्ञानयज्ञः(फ्) परन्तप ।

सर्वं(ङ्) कर्माखिलं(म्) पार्थ, ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ 33॥

हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं(ञ्), ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ 34॥

उस ज्ञान को तू तत्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म तत्व को भलीभाँति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्वज्ञान का उपदेश करेंगे ।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोह-मेवं(यँ) यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण, द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ 35 ॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञान द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को निःशेषभाव से पहले अपने में और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में देखेगा ।

अपि चेदसि पापेभ्यः(स्), सर्वेभ्यः(फ्) पापकृत्तमः ।

सर्वं(ञ्) ज्ञानप्लवेनैव, वृजिनं(म्) सन्तरिष्यसि ॥ 36 ॥

यदि तू अन्य सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी तू ज्ञान रूप नौका द्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्र से भलीभाँति तर जाएगा ।

यथैधां(म्)सि समिद्धोऽग्निर्-भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः(स्) सर्वकर्माणि, भस्मसात्कुरुते तथा ॥ 37 ॥

क्योंकि हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है ।

न हि ज्ञानेन सदृशं(म्), पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं(यँ) योगसं(म्)सिद्धः(ख्), कालेनात्मनि विन्दति ॥ 38 ॥

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मा में पा लेता है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं(न्), तत्परः(स्) सं(यँ)यतेन्द्रियः ।

ज्ञानं(लँ) लब्ध्वा परां(म्) शान्ति-मचिरेणाधिगच्छति ॥ 39 ॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के- तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च, सं(म्)शयात्मा विनश्यति ।

नायं(लँ) लोकोऽस्ति न परो, न सुखं(म्) सं(म्)शयात्मनः ॥ 40 ॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है ।

योगसन्न्यस्तकर्माणं(ञ्), ज्ञानसञ्छिन्नसं(म्)शयम् ।

आत्मवन्तं(न्) न कर्माणि, निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ 41॥

हे धनंजय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों का परमात्मा में अर्पण कर दिया है और जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे वश में किए हुए अन्तःकरण वाले पुरुष को कर्म नहीं बाँधते ।

तस्मादज्ञानसम्भूतं(म्), हृत्स्थं(ञ्) ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वैनं(म्) सं(म्)शयं(यँ) योग-मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ 42 ॥

इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! तू हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशय का विवेकज्ञान रूप तलवार द्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोग में स्थित हो जा और युद्ध के लिए खड़ा हो जा॥42॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः।।

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता पञ्चम अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(म्)

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं(ङ्) कर्मणां(ङ्) कृष्ण, पुनर्योगं(ञ्) च शं(म्)ससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं(न्), तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ 1 ॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण! आप कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इसलिए इन दोनों में से जो एक मेरे लिए भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिए।

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः(ख्) कर्मयोगश्च, निः(श्)श्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्- कर्मयोगो विशिष्यते ॥ 2 ॥

श्री भगवान बोले- कर्म संन्यास और कर्मयोग- ये दोनों ही परम कल्याण के करने वाले हैं, परन्तु उन दोनों में भी कर्म संन्यास से कर्मयोग साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है।

ज्ञेयः(स्) स नित्यसन्न्यासी, यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो, सुखं(म्) बन्धात्प्रमुच्यते ॥ 3 ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि राग-द्वेषादि द्वंद्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार बंधन से मुक्त हो जाता है।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः(फ्), प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः(स्) सम्य-गुभयोर्विन्दते फलम् ॥ 4 ॥

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोग को मूर्ख लोग पृथक्-पृथक् फल देने वाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनों में से एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा को प्राप्त होता है।

यत्साङ्ख्यैः(फ्) प्राप्यते स्थानं(न्), तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं(म्) साङ्ख्यं(ञ्) च योगं(ञ्) च, यः(फ्) पश्यति स पश्यति ॥ 5 ॥

ज्ञान योगियों द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।

सन्न्यासस्तु महाबाहो, दुःखमाप्तुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म, नचिरेणाधिगच्छति ॥ 6 ॥

परन्तु हे अर्जुन! कर्मयोग के बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूप को मनन करने वाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ 7 ॥

जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाला है और सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

नैव किञ्चित्करोमीति, युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्- नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ 8 ॥

तत्व को जानने वाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता है।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्- नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु, वर्तन्त इति धारयन् ॥ 9 ॥

बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रही हैं- इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा मानें कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि, सङ्गं(न्) त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन, पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ 10 ॥

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्ध्या, केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः(ख्) कर्म कुर्वन्ति, सङ्गं(न्) त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ 11 ॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

युक्तः(ख्) कर्मफलं(न्) त्यक्त्वा, शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः(ख्) कामकारेण, फले सक्तो निबध्यते ॥ 12 ॥

कर्मयोगी कर्मों के फल का त्याग करके भगवत्प्राप्ति रूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर बँधता है।

सर्वकर्माणि मनसा, सन्न्यस्यास्ते सुखं(वँ) वशी ।

नवद्वारे पुरे देही, नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ 13 ॥

अन्तःकरण जिसके वश में है, ऐसा सांख्य योग का आचरण करने वाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारों वाले शरीर रूप घर में सब कर्मों को मन से त्यागकर आनंदपूर्वक सच्चिदानंदघन परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है।

न कर्तृत्वं(न्) न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसं(यँ)योगं(म्), स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ 14 ॥

परमेश्वर मनुष्यों के न तो कर्तापन की, न कर्मों की और न कर्मफल के संयोग की रचना करते हैं, किन्तु

स्वभाव ही बरत रहा है।

नादत्ते कस्यचित्पापं(न्), न चैव सुकृतं(वँ) विभुः ।

अज्ञानेनावृतं(ञ्) ज्ञानं(न्), तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ 15 ॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसी के पाप कर्म को और न किसी के शुभकर्म को ही ग्रहण करता है, किन्तु अज्ञान द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसी से सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं(यँ), येषां(न्) नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं(म्), प्रकाशयति तत्परम् ॥ 16 ॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्मा के तत्व ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्रकाशित कर देता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्-तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं(ञ्), ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ 17 ॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही जिनकी निरंतर एकीभाव से स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति को अर्थात् परमगति को प्राप्त होते हैं।

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः(स्) समदर्शिनः ॥ 18 ॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी ही होते हैं।

इहैव तैर्जितः(स्) सर्गो, येषां(म्) साम्ये स्थितं(म्) मनः ।

निर्दोषं(म्) हि समं(म्) ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ 19 ॥

जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थित हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं(म्) प्राप्य, नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिरसम्मूढो, ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ 20 ॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा, विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, सुखमक्षयमश्नुते ॥ 21 ॥

बाहर के विषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरण वाला साधक आत्मा में स्थित जो ध्यानजनित सात्विक आनंद है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के ध्यानरूप योग में अभिन्न भाव से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है।

ये हि सं(म्)स्पर्शजा भोगा, दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः(ख्) कौन्तेय, न तेषु रमते बुधः ॥ 22 ॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिए हे अर्जुन! बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

शक्नोतीहैव यः(स्) सोढुं(म्), प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्भवं(वँ) वेगं(म्), स युक्तः(स्) स सुखी नरः ॥ 23 ॥

जो साधक इस मनुष्य शरीर में, शरीर का नाश होने से पहले-पहले ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है।

योऽन्तः(स्)सुखोऽन्तरारामस्- तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं(म्) , ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ 24 ॥

जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुखवाला है, आत्मा में ही रमण करने वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान वाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त सांख्य योगी शांत ब्रह्म को प्राप्त होता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण-मृषयः(ह) क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः(स्), सर्वभूतहिते रताः ॥ 25 ॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जिनके सब संशय ज्ञान द्वारा निवृत्त हो गए हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभाव से परमात्मा में स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शांत ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां(यँ), यतीनां(यँ) यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं(वँ), वर्तते विदितात्मनाम् ॥ 26 ॥

काम-क्रोध से रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किए हुए ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से शांत परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यां(म्)श्-चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा, नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ 27 ॥

बाहर के विषय-भोगों को न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रों की दृष्टि भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपानवायु को सम करते हैं।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्-मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो, यः(स्) सदा मुक्त एव सः ॥ 28 ॥

जिसकी इन्द्रियाँ मन और बुद्धि जीती हुई हैं, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है ।

भोक्तारं(यँ) यज्ञतपसां(म्), सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं(म्) सर्वभूतानां(ञ्), ज्ञात्वा मां(म्) शान्तिमृच्छति ॥ 29 ॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों का सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः।।

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता षष्ठो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(म्)

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः(ख्) कर्मफलं(ङ्), कार्यं(ङ्) कर्म करोति यः।

स सन्न्यासी च योगी च, न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ 1॥

श्री भगवान बोले- जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं है।

यं(म्) सन्न्यासमिति प्राहुर्- योगं(न्) तं(वँ) विद्धि पाण्डव।

न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो, योगी भवति कश्चन ॥ 2॥

हे अर्जुन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग जान, क्योंकि संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं(ङ्), कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव, शमः(ख्) कारणमुच्यते ॥ 3॥

योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में निष्कामभाव से कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष का जो सर्वसंकल्पों का अभाव है, वही कल्याण में हेतु कहा जाता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु, न कर्मस्वनुषज्जते।

सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी, योगारूढस्तदोच्यते ॥ 4॥

जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस काल में सर्वसंकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं(न्), नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु-रात्मैव रिपुरात्मनः ॥ 5॥

अपने द्वारा अपना संसार-समुद्र से उद्धार करे और अपने को अधोगति में न डाले क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य, येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे, वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ 6॥

जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्मा का तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिए वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता में बर्तता है।

जितात्मनः(फ्) प्रशान्तस्य, परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु, तथा मानापमानयोः ॥ 7॥

सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ भलीभाँति शांत हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुष के ज्ञान में सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है अर्थात् उसके ज्ञान में परमात्मा के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ 8॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु, समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ 9॥

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणों में, धर्मात्माओं में और पापियों में भी समान भाव रखने वाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।

योगी युञ्जीत सतत-मात्मानं(म्) रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा, निराशीरपरिग्रहः ॥ 10॥

मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने वाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकांत स्थान में स्थित होकर आत्मा को निरंतर परमात्मा में लगाए।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं(न्) नातिनीचं(ञ्), चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ 11॥

शुद्ध भूमि में, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसन को स्थिर स्थापन करे।

तत्रैकाग्रं(म्) मनः(ख्) कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्-योगमात्मविशुद्धये ॥ 12॥

उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे

समं(ङ्) कायशिरोग्रीवं(न्), धारयन्नचलं(म्) स्थिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं(म्) स्वं(न्), दिशश्चानवलोकयन् ॥ 13॥

काया, सिर और गले को समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ

प्रशान्तात्मा विगतभीर्-ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः(स्) सं(यँ)यम्य मच्चित्तो, युक्त आसीत मत्परः ॥ 14॥

ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शांत अन्तःकरण वाला सावधान योगी मन को रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे

युञ्जन्नेवं(म्) सदात्मानं(यँ), योगी नियतमानसः ।

शान्तिं(न्) निर्वाणपरमां(म्), मत्संस्थामधिगच्छति ॥ 15॥

वश में किए हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरंतर मुझ परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ मुझमें रहने वाली परमानन्द की पराकाष्ठारूप शान्ति को प्राप्त होता है

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतः।

न चातिस्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन॥ 16॥

हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिलकुल न खाने वाले का, न बहुत शयन करने के स्वभाव वाले का और न सदा जागने वाले का ही सिद्ध होता है

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥ 17॥

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है

यदा विनियतं(ञ्) चित्त- मात्मन्येवावतिष्ठते।

निः(स्)स्पृहः(स्) सर्वकामेभ्यो, युक्त इत्युच्यते तदा॥ 18॥

अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों से स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है

यथा दीपो निवातस्थो, नेङ्गते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य, युञ्जतो योगमात्मनः॥ 19॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है

यत्रोपरमते चित्तं(न्), निरुद्धं(यँ) योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं(म्), पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ 20॥

योग के अभ्यास से निरुद्ध चित्त जिस अवस्था में उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में परमात्मा के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही सन्तुष्ट रहता है

सुखमात्यन्तिकं(यँ) यत्तद्-बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं(म्), स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ 21॥

इन्द्रियों से अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है, और जिस अवस्था में स्थित यह योगी परमात्मा के स्वरूप से विचलित होता ही नहीं

यं(लँ) लब्ध्वा चापरं(लँ) लाभं(म्), मन्यते नाधिकं(न्) ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन, गुरुणापि विचाल्यते ॥ 22॥

परमात्मा की प्राप्ति रूप जिस लाभ को प्राप्त होकर उसे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मा प्राप्ति रूप जिस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता

तं(वँ) विद्याद् दुःखसं(यँ)योग- वियोगं(यँ) योगसञ्ज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ 23॥

जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिए। वह योग न उकताए हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है

सङ्कल्पप्रभवान्कामां(म्)स्- त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं(वँ), विनियम्य समन्ततः ॥ 24॥

संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेष रूप से त्यागकर और मन द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सभी ओर से भलीभाँति रोककर

शनैः(श्) शनैरुपरमेद्-बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

आत्मसं(म्)स्थं(म्) मनः(ख्) कृत्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ 25॥

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरति को प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे

यतो यतो निश्चरति, मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैत-दात्मन्येव वशं(न्) नयेत् ॥ 26॥

यह स्थिर न रहने वाला और चंचल मन जिस-जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में विचरता है, उस-उस विषय से रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मा में ही निरुद्ध करे

प्रशान्तमनसं(म्) ह्येनं(यँ), योगिनं(म्) सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं(म्), ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ 27॥

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शांत है, जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शांत हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को उत्तम आनंद प्राप्त होता है

युञ्जन्नेवं(म्) सदात्मानं(यँ), योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसं(म्)स्पर्श-मत्यन्तं(म्) सुखमश्नुते ॥ 28॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरंतर आत्मा को परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप अनन्त आनंद का अनुभव करता है

सर्वभूतस्थमात्मानं(म्), सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः ॥ 29॥

सर्वव्यापी अनंत चेतन में एकीभाव से स्थिति रूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है

यो मां(म्) पश्यति सर्वत्र, सर्वं(ञ्) च मयि पश्यति ।

तस्याहं(न्) न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥ 30॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता

सर्वभूतस्थितं(यँ) यो मां(म्), भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि, स योगी मयि वर्तते ॥ 31॥

जो पुरुष एकीभाव में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को भजता है, वह योगी सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं(म्) पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं(वँ) वा यदि वा दुःखं(म्), स योगी परमो मतः॥ 32॥

हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

अर्जुन उवाच

योऽयं(यँ) योगस्त्वया प्रोक्तः(स्), साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं(न्) न पश्यामि, चञ्चलत्वात्स्थितिं(म्) स्थिराम् ॥ 33॥

अर्जुन बोले- हे मधुसूदन! जो यह योग आपने समभाव से कहा है, मन के चंचल होने से मैं इसकी नित्य स्थिति को नहीं देखता हूँ

चञ्चलं(म्) हि मनः(ख्) कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम् ।

तस्याहं(न्) निग्रहं(म्) मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥ 34॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, बड़ा दृढ़ और बलवान है। इसलिए उसको वश में करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ

श्रीभगवानुवाच

असं(म्)शयं(म्) महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं(ञ्) चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥ 35॥

श्री भगवान बोले- हे महाबाहो! निःसंदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। परन्तु हे कुंतीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है

असं(यँ)यतात्मना योगो, दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ 36॥

जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है और वश में किए हुए मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन से उसका प्राप्त होना सहज है- यह मेरा मत है

अर्जुन उवाच

अयतिः(श्) श्रद्धयोपेतो, योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसं(म्)सिद्धिं(ङ्), कां(ङ्) गतिं(ङ्) कृष्ण गच्छति ॥ 37॥

अर्जुन बोले- हे श्रीकृष्ण! जो योग में श्रद्धा रखने वाला है, किन्तु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकाल में योग से विचलित हो गया है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत्साक्षात्कार को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्-छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो, विमूढो ब्रह्मणः(फ्) पथि ॥ 38॥

हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्मे सं(म्)शयं(ङ्) कृष्ण, छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः(स्) सं(म्)शयस्यास्य, छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ 39॥

हे श्रीकृष्ण! मेरे इस संशय को सम्पूर्ण रूप से छेदन करने के लिए आप ही योग्य हैं क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशय का छेदन करने वाला मिलना संभव नहीं है

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्-दुर्गतिं(न्) तात गच्छति ॥ 40॥

श्री भगवान बोले- हे पार्थ! उस पुरुष का न तो इस लोक में नाश होता है और न परलोक में ही क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धार के लिए अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता

प्राप्य पुण्यकृतां(लँ) लोका-नुषित्वा शाश्वतीः(स्) समाः ।

शुचीनां(म्) श्रीमतां(ङ्) गेहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ 41॥

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षों तक निवास करके फिर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान पुरुषों के घर में जन्म लेता है

अथवा योगिनामेव, कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं(लँ), लोके जन्म यदीदृशम् ॥ 42॥

अथवा वैराग्यवान पुरुष उन लोकों में न जाकर ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जो यह जन्म है, सो संसार में निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है

तत्र तं(म्) बुद्धिसं(यँ)योगं(लँ), लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः(स्), सं(म्)सिद्धौ कुरुनन्दन ॥ 43॥

वहाँ उस पहले शरीर में संग्रह किए हुए बुद्धि-संयोग को अर्थात् समबुद्धिरूप योग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभाव से वह फिर परमात्मा की प्राप्तिरूप सिद्धि के लिए पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करता है

पूर्वाभ्यासेन तेनैव, ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य, शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ 44॥

वह श्रीमानों के घर में जन्म लेने वाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहले के अभ्यास से ही निःसंदेह भगवान की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धि रूप योग का जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को उल्लंघन कर जाता है

प्रयत्नाद्यतमानस्तु, योगी सं(म्)शुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसं(म्)सिद्धस्- ततो याति परां(ङ्) गतिम् ॥ 45॥

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी तो पिछले अनेक जन्मों के संस्कारबल से इसी जन्म में संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापों से रहित हो फिर तत्काल ही परमगति को प्राप्त हो जाता है

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ 46॥

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। इससे हे अर्जुन! तू योगी हो

योगिनामपि सर्वेषां(म्), मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां(म्), स मे युक्ततमो मतः ॥ 47॥

सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे आत्मसं(यँ)यमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।